बिहार में दलितों का राजनीतिक उत्कर्ष : एक अध्ययन

समरेन्द्र नाथ विश्वास*

परम्परात्मक समाज में दलित अपने कार्य के आधार पर दो वर्गों में विभक्त थे। एक वे जो जजमानी व्यवस्था के तहत प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से केवल अपने जजमानों की परम्परात्मक सेवा करते थे और गुजारा के लिए परम्परात्मक रूप से मात्र अपना पैतृक कार्य ही करते थे जैसे धोबी खटीक (सुअर पालना), धरकार (कॉस का काम), अथवा चमार (चमड़े का काम)। दूसरे वे जो परम्परात्मक सेवा कार्य के साथ–साथ अपने भू–स्वामी के यहाँ खेती का काम भी बहुत कुछ वंशानुगत रूप से करते थे जैसे महाराष्ट्र में महार तथा उत्तरी भारत में चमार आदि।[1] दक्षिण में अधिकांश दलित लोग इसी वर्ग में आते हैं। अस्पृश्य जातियों में से ऐसी जातियाँ जो उच्च जातियों की परम्परात्मक रूप से सेवा के साथ–साथ कृषि मजदूरी का कार्य भी करती थी, दलित आन्दोलन में अधिक सक्रिय, संगठित व उग्र रही है।[2]

राजनीतिक उत्कर्ष की परिस्थितियाँ :–जाति व्यवस्था को चिरस्थाई बनाने वाले राजनैतिक एवं आर्थिक आधार ब्रिटिश शासनकाल में धीरे–धीरे कमजोर पड़ने लगे। हालाँकि अंग्रेजों की प्रारम्भिक नीति भारतीय समाज व संस्कृति के परम्परात्मक ढांचे को तोड़ने की नहीं थी। क्योंकि ऐसा कदम उनके राजनैतिक हितों के लिए जोखिम भरा हो सकता था। तथापि पाश्चात्य सामाजिक, सांस्कृतिक मूल्यों और पाश्चात्य शिक्षा व जीवन पद्धति के प्रति उनकी प्रतिबद्धता तथा देश में परवर्ती ब्रिटिशकाल के राजनैतिक घटनाक्रमों एवं हिन्दू सामाजिक सुधार आन्दोलनों को देखते हुए उनके लिए नागरिक अधिकारों में व्याप्त परम्परात्मक असमानता को मिटाना, लौकिक कानूनों का निर्माण करना तथा शिक्षा को लौकिक व लोकव्यापी बनाना आवश्यक हो गया। औद्योगिक विकास व पूँजीवाद के प्रसार के फलस्वरूप जाति व्यवस्था का आर्थिक व व्यवसायिक आधार भी समाप्त हो गया। नवीन उद्योग व सेवाओं में भर्ती के लिए लोगों को शिक्षित व प्रशिक्षित करने की आवश्यकता हुई। शिक्षा और औद्योगिक एवं तकनीकी प्रशिक्षण का तेजी से प्रसार हुआ। परिणामस्वरूप शिक्षा, नौकरी, व्यवसाय तथा पेशों के चुनाव में व्यक्ति

***(इतिहास विभाग) शिव नगर, हिलसा (बिहार)**

स्वतन्त्र हो गया। जाति व्यवस्था को अक्षुण रखने वाला पुरोहित व सामंत वर्ग का परम्परात्मक वर्चस्व औपनिवेशिक काल विशेष रूप से उसके उत्तरार्ध में समाप्त होने लगा। जिससे सामाजिक समानता के लिए की जाने वाली पहल आसान हो गई। ब्रिटिश हितों की रक्षा के लिए भारतीयों को अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों में जाना पड़ा। जिससे विश्व के अन्य लोगों के साथ भारतीयों का सम्पर्क बढ़ा। उनमें नव चेतना जागृत हुई। जिससे परम्परात्मक जात–पात के भेद–भाव के विरुद्ध सामाजिक वातावरण का निर्माण हो सका और राष्ट्रव्यापी सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आन्दोलनों की भूमिका बन सकी।

भारत में जाति व्यवस्था का इतिहास जितना पुराना है उससे कम पुराना इतिहास जाति विहीन समान की स्थापना के प्रयास का नहीं है। ईसा से सदियों पूर्व महावीर ने जाति व्यवस्था का विरोध किया। बुद्ध ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व जन्म व जाति पर आधारित सामाजिक भेद–भाव के विरुद्ध अहिंसात्मक क्रांति का आह्वान किया।[3] बुद्ध के सामाजिक दर्शन के आधार सामाजिक समानता और स्वतन्त्रता थे।[4] उन्होंने जहाँ विचार में तर्क, बुद्धि और अनुभव को महत्व दिया। वहीं व्यवहार में करुणा व प्रेम को स्थान दिया। बौद्ध दर्शन का प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय समाज पर बहुत व्यापक, गहरा और दीर्घकालीन रहा। किन्तु कालान्तर में ऐतिहासिक एवं राजनैतिक उथल–पुथल के कारण बौद्ध धर्म का भारत से लोप हो गया।

हिन्दू राजाओं की आपसी लड़ाई, फूट और पतन तथा मुस्लिम सल्तनत की स्थापना के साथ हिन्दू धर्म व समाज, आन्तरिक सुधार एवं विकास का मार्ग ढूँढ़ने की अपेक्षा आत्म रक्षा में लीन हो गया। दीर्घकाल से एक सशक्त व टिकाऊ केन्द्रीय राज्य सत्ता के अभाव में हिन्दू धर्म और समाज में समयानुकूल सुधार नहीं हो सके। परिणाम–स्वरूप धार्मिक क्षेत्र में कट्टरता, कर्मकाण्ड और पाखण्ड का जोर तो बढ़ा ही, समाज में अनेक कुरीतियाँ और बुराइयाँ घर कर गई। इस अन्धकार से जनमानस को उबरने के लिए समाज में भक्ति आन्दोलन का उद्भव हुआ। जिसकी जड़ें, एक शताब्दी ईसा पूर्व में देखी जा सकती है।[5] विशेष रूप से मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल के बीच सन्तों की एक अटूट परम्परा क्रियाशील रही। जिसमें ग्यारहवीं सदी के आचार्य रामानुज, जिनके कई अछूत शिष्य भी थे और जिन्होंने अछूतों के लिए मठों और मन्दिरों के द्वार खोले, से लेकर रामानन्द, कबीर, नानक, चोखामेला, रैदास, धन्ना, नामदेव, चैतन्य, तुकाराम तथा रामकृष्ण परमहंस के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भक्ति आन्दोलन का क्षेत्र प्रधान रूप से धार्मिक था फिर भी समाज सुधार की दिशा में इसने महत्वपूर्ण कार्य किया।

वास्तव में इसका विकास धर्म के क्षेत्र में सामाजिक असमानता के विरोध स्वरूप हुआ। इसमें जातिगत या वंशगत आधार पर व्यक्तियों के बीच ऊँच–नीच के भेद–भाव को स्वीकार नहीं किया गया। इसने कम से कम धर्म के क्षेत्र में जाति जनित सीमाओं से परे व्यक्ति की महत्ता को पुर्नस्थापित किया।[6] किन्तु भक्ति आन्दोलन की कुछ सीमाएँ भी थी। भक्ति, डॉक्टर अम्बेडकर के अनुसार लोगों में समर्पण की प्रवृति को बढ़ावा देती है।[7] यह समाज के लिए असहायपन की अफीम हैं भक्ति ने दलितों की नसों को कमजोर किया। उनमें अधीनता की भावना को विकसित किया।

अस्पृश्यता व अन्य सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध व्यापक जागृति 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में पाश्चात्य शिक्षा व संस्कृति के प्रभाव स्वरूप सम्भव हुई। पाश्चात्य समाजों में वैज्ञानिक औद्योगिक प्रगति, प्रजातांत्रिक विकास और लौकिक दृष्टिकोण के प्रसार का भारतीय जनमानस पर गहरा प्रभाव पड़ा। कम्पनी शासन की समाप्ति और ब्रिटिश साम्राज्य के प्रत्यक्ष नियन्त्रण के पश्चात् देश में उदारवादी लौकिक शिक्षा का तेजी से प्रसार हुआ। उद्योग की स्थापना हुई और संचार व आवागमन के साधनों का तेजी से विकास हुआ। भारत में उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया ने पाश्चात्यीकरण को जन्म दिया। पाश्चात्य सामाजिक मूल्य जन्मगत ऊँच–नीच के सामाजिक भेद के स्थान पर स्वतन्त्रता व समानता पर आधारित प्रजातांत्रिक संस्थाओं के पक्ष पोषक थे।

भारत में राष्ट्रीय जागृति का विकास धार्मिक व सामाजिक सुधारों के रूप में हुआ। धार्मिक सुधार आन्दोलन ने एक ओर पाखण्ड, आडम्बर और कर्मकाण्ड का विरोध किया और दूसरी ओर जात–पांत व अन्य मध्ययुगीन सामाजिक कुमान्यतायें, जो राष्ट्रीय प्रगति व एकता के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा थी, के विरुद्ध संघर्ष का आह्वान किया।[8] आधुनिक युग में सामाजिक आन्दोलन का स्वरूप भले ही धार्मिक रहा हो किन्तु इसकी प्रकृति उदारवादी थी। धीरे–धीरे आन्दोलन की प्रकृति पूर्णतः लौकिक हो गई।

राजाराम मोहन राय (1772–1833) भारतीय इतिहास की वह कड़ी हैं जो उसके अतीत को वर्तमान से जोड़ती है। उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की और जात–पात व अन्य सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए संघर्ष का आह्वान किया। देवेन्द्रनाथ टैगोर और केशव चन्द्र सेन ने उनके इस कार्य को और बढ़ाया। एम०जी० रानाडे के नेतृत्व में प्रार्थना समाज (1891) की स्थापना हुई। उसने ब्रह्म समाज की सामाजिक समानता की धारणा और जाति विरोधी आन्दोलन को सशक्त व व्यापक बनाने में मदद की। प्रार्थना समाज ने दलितों के उत्थान के लिए उपयोगी कार्य किया। इस हेतु इसने एक पृथक मिशन (1890) की स्थापना की।

दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित आर्य समाज (1875) ने छुआछूत का विरोध किया और शुद्धि के माध्यम से अस्पृश्यों के लिए जो पूर्व में मुसलमान व ईसाई बन गये थे हिन्दू धर्म में लौटने का द्वार खोला। इसने दलित को जनेऊ पहनने, मन्त्रोच्चारण करने तथा वेद पढ़ने की स्वतन्त्रता प्रदान कर सामाजिक हीनता से मुक्ति दिलाने में उल्लेखनीय कार्य किया। किन्तु जहाँ 'ब्रह्म समाज' और 'प्रार्थना समाज' ने जाति के पूर्ण विच्छेद की बात की वहाँ आर्य समाज ने हजारों जातियों में विभक्त हिन्दू समाज को चतुर्वर्णीय व्यवस्था में पुनर्गठित करने का प्रयास किया। आर्य समाज का सबसे बड़ा योगदान अस्पृश्य व अन्त्रयज समझी जाने वाली जातियों को जो कालान्तर में हिन्दू समाज से दूर हो गई थी, सामाजिक दासता से मुक्ति प्रदान कर समाज की मुख्यधारा से जोड़ना था। इसने धर्म सुधार आन्दोलनों द्वारा हिन्दू समाज की परम्परात्मक जड़ता को भंग तो अवश्य किया किन्तु इनकी सबसे बड़ी दुर्बलता यह थी कि वे जनसामान्य को सक्रिय बनाने में असफल रहे। वास्तव में इसने हिन्दू धर्म की मुख्यधारा से अपने को कमोबेश पृथक रखा। इसलिए इनका प्रभाव वृहत हिन्दू समाज की तुलना में कुछ सीमित लोगों तक ही रहा। ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज शिक्षित व्यक्तियों में अधिक लोकप्रिय रहे जबकि आर्य समाज का प्रभाव विशेष रूप से पंजाब एवं पश्चिमी उत्तर प्रदेश की मध्यम जातियों तथा हिन्दू धर्म में पुर्नदीक्षित व्यक्तियों पर अधिक रहा।[9]

स्वामी विवेकानन्द आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन के आध्यात्मिक जनक कहे जाते हैं। उन्होंने अस्पृश्यता को सामाजिक अभिशाप निरूपित किया और कहा कि अस्पृश्यता का कोई सामाजिक, नैतिक व धार्मिक औचित्य नहीं हैं। विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना के माध्यम से देश में सामाजिक व धार्मिक सुधार के लिए उल्लेखनीय कार्य किया। उन्होंने ब्राह्मणों के धार्मिक वर्चस्व का विरोध किया। उनकी दृष्टि में अस्पृश्य समस्या का समाधान हिन्दू धर्म व समाज व्यवस्था में शांतिपूर्ण सुधार के माध्यम से ही अधिक प्रभावकारी हो सकता है। स्वामी जी के अनुसार जाति समस्या का समाधान उच्च वर्गों को गिराने से नहीं बल्कि नीची जातियों को ऊँची जातियों के बराबर उठाने से होगा। शिक्षा के विकास और समाज सेवा के विस्तार में श्रीमती एनी बीसेंट द्वारा स्थापित थियेसोफिकल सोसाइटी ने भी उल्लेखनीय कार्य किया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद लगातार कई दशकों तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का शासन रहा जो दलितों की दुहाई देता रहा। इस दौरान दलितों के बेताज बादशाह बाबू जगजीवन राम अनुसूचित जातियों की हालत में सुधार के लिए कदम उठाते रहे। उन्होंने 'डीप्रेस्ड क्लासेज' का नेतृत्व आजादी के पूर्व ही किया था तथा बाद में उनके उत्थान और राजनीतिक सहभागिता के लिए कदम उठाया। जातियों

को 'सेल्फ एसर्सन' तथा अपनी स्थिति में सुधार लाने की सलाह दी।[10] दलित मुक्ति के गाँधीवादी तरीकों का अनुसरण करते हुए बाबू जगजीवन राम सत्ता के दहलीज से अनुसूचित जातियों का उत्साह वर्धन करते रहे।

1980 के चुनावों के पश्चात् जब जगजीवन राम सत्ता से अलग हुए तो अनुसूचित जातियों में राजनीतिक चेतना के उत्कर्ष के लिए प्रेरक का काम करते रहे। हिन्दू जाति व्यवस्था तथा समाजिक व्यवस्था के हरिजन विरोधी पक्षों के प्रति अगाह करते रहे।[11] उन्होंने एक बार कहा भी "इस कमबख्त मुल्क में हरिजन कभी प्रधानमंत्री नहीं बन सकता।"[12] इस प्रकार राजनीति की सीढ़ी पर ऊपर चढ़ने के लिए उन्होंने हरिजनों के लिए आदर्श स्थापित किये–जैसे "अपना हक लड़ कर लेना चाहिए, मांगने से नहीं मिलता', 'समाज में हरिजनों को अपना सम्मान खुद अर्जित करना होगा', 'जाति–व्यवस्था की चुनौतियों का सामना करना चाहिए' आदि। उनके आदर्शों और सीखों से अनुसूचित जातियों के राजनीतिक संगठन तो नहीं बने परन्तु इन जातियों में राजनीतिक चेतना जागृत हुई। उनके अन्दर स्व–स्फूर्त भावना का विस्तार हुआ। यद्यपि इसका प्रत्यक्ष प्रतिफलन शायद न किया जा सके परन्तु उनके वक्तव्यों और आदर्शों से इन जातियों में राजनीतिक भागीदारी की उत्कंठा का समावेश हुआ।

बिहार में दलित वर्गों या अनुसूचित जातियों का राजनीतिक पक्ष और गैर–दावा दारी (नन–एसर्सन) का शिकार रहा है। राजनीतिक दल इस वर्ग को चुनावी हथियार के रूप में उपयोग करते रहे परन्तु पिछले दो– तीन आम चुनावों से अब राजनीतिक दल 'सांकेतिक प्रतिनिधित्व' के अतिरिक्त भी उनमें राजनीतिक सम्भावनाएँ पनपने लगे हैं। यही कारण है कि राज्य स्तर पर कई राजनीतिक दल भी गठित हुए जो अनुसूचित जातियों के हितों को प्राथमिकता देकर राजनीतिक सत्ता में भागीदारी का मार्ग प्रशस्त किये। जिसमें बहुजन समाज पार्टी (बी०एस०पी०) का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। अनुसूचित जातियों पर ब०स०पा० का वर्चस्व को बढ़ते देखकर बाबू जगजीवन राम के उत्तराधिकार का दावा करने वाले राम विलास पासवान ने अपनी राजनीति शक्ति का निचले स्तर पर फैलाव करने का रास्ता ढूँढ़ लिया। हालांकि चुनावी सम्भावनाओं पर गैर हरिजन वर्चस्व के बिना कोई असर नहीं प्रतीत हुआ।[13] पिछले वर्षों में जो अनुसूचित जातियों को राजनीतिक रूप से संगठित करने की प्रवृति देखने को मिली वह पहले कभी नहीं मिली थी। बिहार और उत्तर प्रदेश में दलित राजनीति स्पष्ट रूप से चुनावी क्षितिज पर दृष्टिगोचर हुआ है।

इसी कड़ी में बिहार की भूमि से एक परा–राजनैतिक संगठन 'दलित सेना' का गठन हुआ। 20 दिसम्बर 1987 को राम विलास पासवान के नेतृत्व में पटना में आयोजित दलित सेना सम्मेलन द्वारा दलित सेना अस्तित्व में आ गई। सम्मेलन के मंच पर दलितों के अतिरिक्त सवर्णों की भी सहभागिता थी जिसमें चौधरी ब्रह्म प्रकाश, दिग्गविजय सिंह, चन्द्रजीत यादव, के साथ ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह था कि डॉ० सविता अम्बेडकर ने भी इस पहल में अपना पुरजोर सहयोग दिया। राम विलास पासवान ने कहा, "हम दलित सेना के सेनानी देश की जर्जर समाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था को समाप्त करने और एक नया भारत जो समता और समृद्धि का भारत होगा, बनाने को इकट्ठा हुए हैं।"[14] उसी दिन 17 धाराओं वाली दलित सेना का संविधान भी जारी किया गया। इसके उद्देश्य में लिखा गया है, "दलित सेना समाजिक तथा सांस्कृति क्रांति के द्वारा सभी प्रकार के शोषण से मुक्त समतावादी समाज की स्थापना चाहता है। दलित सेना हजारों वर्षों से समाज के शोषित, पीड़ित उपेक्षित समुदाय के बीच समाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक चेतना के द्वारा आत्मसम्मान की भावना पैदा करना चाहता है। दलित सेना भाग्य, भगवान, पूनर्जन्म, जाति–व्यवस्था, पाखण्ड और द्विनवाद का कट्टर विरोधी है। इसका विश्वास अहिंसक क्रांति में है।"[15]

दलित सेना नामक यह संगठन राम विलास पासवान के नेतृत्व में गति पकड़ने लगा। प्रारम्भ में इस संगठन का लालू प्रसाद का समर्थन मिलता रहा और दो कारणों से लालू नेतृत्व का जनता दल के साथ सम्पूर्ण समुदाय जुड़ा रहा–(1) दलितों के कल्याणकारी कार्यक्रमों पर बल दिया जाना तथा (2) दलितों के बीच 'मसीहाई' नेतृत्व का अभाव। वर्त्तमान राजनीतिक स्थिति ने सारे समीकरण को बदल दिया है। लालू प्रसाद के राष्ट्रीय जनता दल से दलित सेना न केवल अलग हुआ बल्कि प्रबल विरोधी भी हो गया। दलित सेना का संगठन यद्यपि राष्ट्रीय स्तर से प्रखण्ड स्तर तक फैला परन्तु अनुसूचित जातियाँ दलगत झुकावों में बिखर गये। अर्थात् दलित सेना मात्र बिहार की पासवान जाति का संगठन बन कर रह गया है।[16] फिर भी निचले स्तर के नेतृत्व ने अनुसूचित जातियों के बीच स्व–दावा (सेल्फ एसर्सन) को जागृत करने में सफलता प्राप्त की है। सेना के संगठनात्मक संरचना में पासवान जाति की पूरी–पूरी पकड़ दृष्टिगोचर होती है। अर्थात् राजनीतिक नेतृत्व अनुसूचित जातियों की एक खास जाति तक सिमट गया है।[17] इसे व्यापक होना होगा अर्थात् सभी अनुसूचित जातियों को एकसूत्र में बांध कर राजनीतिक जागृति की दिशा में उत्प्रेरित करना होगा तभी दलित सेना दलित मुक्ति आन्दोलन का अंग बन सकेगी।

संदर्भ–सूची :

1. पटनाकर, पी०बी० और जी, ओभवेद, "द दलित लिबरेशन मूवमेंट इन कोलोनियल पीरियड", इकानामिक एण्ड पॉलिटिकल विकली, वर्ष 14 अंक 7 व 8, 1979, पृ० 709–29
2. वही
3. अम्बेडकर, बी०आर०, भगवान बुद्ध और उनका धर्म (अणुदित) सिद्धार्थ प्रकाशन, बम्बई, 1979
4. जिज्ञासु, चन्द्रिका प्रसाद (संपा०), बाबा साहब के पन्द्रह व्याख्यान, बहुजन कल्याण प्रकाशन, लखनऊ 1980; बुद्धा एण्ड द यूचर ऑफ हिज रिलिजन, भीम पत्रिका प्रकाशन जालंधर, 1980.
5. श्रीवास्तव, एम०एन०, कास्ट इन मॉडर्न इण्डिया एण्ड अदर एसेज, बाम्बे पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1962.
6. श्रीवास्तव, एम०एन०, इण्डिया : सोशल स्ट्रक्चर, हिन्दुस्तान पब्लिशिंग कारपोरेशन, दिल्ली, 1982.
7. वीर, धनंजय, डा० अम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन्स, पोपुलर प्रकाशन, बम्बई, 1981.
8. देसाई, ए०आर०, सोशल बैक ग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म, पोपुलर प्रकाशन, बम्बई, 1982.
9. जैन, प्रतिभा, "डिप्रेस्ड क्लास मूवमेंट : ए गाँधीयन एप्रोच", गाँधी मार्ग, वर्ष 20, पृ० 465–77.
10. ओझा, जी०पी० और वर्मा, आर०के०, बाबू जगजीवन राम : ए स्टडी ऑफ हिज आईडियाज (भाग–1), जगजीवन राम संसदीय अध्ययन एवं राजनीतिक शोध संस्थान, पटना, 1989; सहाय, संजय, लीडरशिप एण्ड पॉलिटिकल आईडियाज ऑफ बाबू जगजीवन राम, भारती पुस्तक सदन, पटना, 1998.
11. राम, जगजीवन, कास्ट चैलेंज इन इण्डिया, विजन बुक, नई दिल्ली, 1980; भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1981.
12. उनके द्वारा बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के हरिजन छात्र संघ के सम्मेलन में दिये गये भाषण तथा 1986 जुलाई में पटना से निकलने वाले दैनिक समाचारों में छपे लेखों से यह स्पष्ट होता है। देखें जी०पी० ओझा और आर०के० वर्मा, पूर्वोक्त.
13. वर्मा, रवीन्द्र कुमार, "शिड्यूल्ड कास्ट्स एण्ड बिहार पालिटिक्स"; ए०के० लाल (सम्पा०), दलित्स इन बिहार, कन्सेप्ट पब्लिशिंग, नई दिल्ली.
14. दलित सेना का संविधान, दलित सेना सम्मेलन 20.12.1987 दलित सेना कार्यालय, नई दिल्ली, 1987.
15. दलित सेना संविधान की धारा तीन देखें।
16. रवीन्द्र कुमार, वर्मा, पूर्वोक्त
17. वही.

———